जैन शिक्षा दर्शन

वर्तमान युग ज्ञान-विज्ञान का युग है। मात्र बीसवीं सदी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जितना विकास हुआ है, उतना विकास मानवजाति के अस्तित्व की सहस्रों शताब्दियों में नहीं हुआ था। आज ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा एवं शोधकार्य में संलग्न सहस्रों विश्वविद्यालय, महाविद्यालय और शोध-केन्द्र हैं। यह सत्य है कि आज मनुष्य ने भौतिक जगत के सम्बन्ध में सूक्ष्मतम ज्ञान प्राप्त कर लिया है। आज उसने परमाणु को विखण्डित कर उसमें निहित अपरिमित शक्ति को पहचान लिया है, किन्तु यह दुर्भाग्य ही है कि शिक्षा एवं शोध के इन विविध उपक्रमों के माध्यम से हम एक सभ्य, सुसंस्कृत एवं शान्तिप्रिय मानव समाज की रचना नहीं कर सके।

वस्तुतः आज की शिक्षा हमें बाह्य जगत और दूसरों के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्रदान कर देती है, किन्तु उन उच्च जीवन मूल्यों के सम्बन्ध में वह मौन ही है, जो एक सुसभ्य समाज के लिये आवश्यक है। आज शिक्षा के माध्यम से हम विद्यार्थियों को सूचनाओं से तो भर देते हैं, किन्तु उन्हें जीवन के उद्देश्यों और जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में हम कोई जानकारी नहीं देते हैं। आज समाज में जो स्वार्थपरताजन्य, संघर्ष और हिंसा पनप रही है, उसका कारण शिक्षा की यही गलत दिशा ही है। हम शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को सूचनाओं से भर देते हैं, किन्तु उसके व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करते हैं।

वस्तुतः आज शिक्षा का उद्देश्य ही उपेक्षित है। आज शिक्षक और शिक्षार्थी, शासक और समाज कोई भी यह नहीं जानता कि हम क्यों पढ़ रहे हैं और क्यों पढा रहे हैं? यदि वह जानता भी है तो या तो वह उदासीन है या फिर अपने को अकर्मण्यता की स्थिति में पाता है। आज शिक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र में आराजकता है। इस अराजकता या दिशाहीनता की स्थिति के सम्बन्ध में भी जो कुछ चिन्तन हुआ है, उसमें शिक्षा को आजीविका से जोड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। वर्तमान में रोजगारोन्मुख शिक्षा की बात अधिक जोर से कही जाती है। यह माना जाता है कि शिक्षा के रोजगारोन्मुख न होने से ही आज समाज में अशान्ति है, किन्तु मेरी दृष्टि में वर्तमान सामाजिक संघर्ष और तनाव का कारण व्यक्ति का जीवन के उद्देश्यों या मूल्यों के सम्बन्ध में अज्ञान या गलत दृष्टिकोण ही है। स्वार्थपरक भौतिकवादी जीवन-दृष्टि ही समस्त मानवीय दुःखों का मूल है।

सबसे पहले हमें यह निश्चय करना होगा कि हमारी शिक्षा का प्रयोजन क्या है? यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का प्रयोजन रोजी-रोटी कमाने या मात्र उदरपूर्ति के योग्य बना देना है, तो यह एक भ्रान्त धारणा होगी क्योंकि रोजी-रोटी की व्यवस्था तो अशिक्षित भी कर लेता है। पशु-पक्षी भी तो अपना पेट भरते ही हैं। अतः शिक्षा को रोजी-रोटी से जोड़ना गलत है। यह सत्य है कि बिना रोटी के मनुष्य का काम नहीं चल सकता। दैहिक जीवन-मूल्यों में उदरपूर्ति व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता है, इससे इंकार भी नहीं किया जा सकता है किन्तु इसे ही शिक्षा का "अथ और इति" नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यह कार्य शिक्षा के अभाव में भी सम्भव है। यदि उदरपूर्ति/आजीविका अर्जन ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य हो तो फिर मनुष्य पशु से भिन्न नहीं होगा। कहा भी है—

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतद पशुभिः नराणाम।
ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीना पशुभिः समाना।।"

पुनः यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को अधिक सुख-सुविधा पूर्ण जीवन जीने योग्य बनाना है, तो उसे भी हम शिक्षा का उद्देश्य नहीं कह सकते। क्योंकि मनुष्य के दुःख और पीड़ाएँ भौतिक या दैहिक स्तर की ही नहीं हैं, वे मानसिक स्तर की भी हैं। सत्य तो यह है कि स्वार्थपरता, भोगाकांक्षा और तृष्णाजन्य मानसिक पीड़ाएँ ही अधिक कष्टकर हैं, वे ही मानवजाति में भय एवं संत्रास का कारण हैं। यदि भौतिक सुख-सुविधाओं का अम्बार लगा देने में ही सुख होता तो आज अमेरिका (U.S.A.) जैसे विकसित देशों का व्यक्ति अधिक सुखी होता, किन्तु हम देखते हैं वह संत्रास और तनाव से अधिक ग्रस्त है। यह सत्य है कि मनुष्य के लिये रोटी आवश्यक है, लेकिन वही उसके जीवन की इति नहीं है। ईसा मसीह ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जी सकता है।[१] हम मनुष्य को भौतिक सुखों का अम्बार खड़ा करके भी सुखी नहीं बना सकते। सच्ची शिक्षा वही है जो मनुष्य को मानसिक संत्रास और तनाव से मुक्त कर सके। उसमें सहिष्णुता, समता, अनासक्ति, कर्तव्यपरायणता के गुणों को विकसित कर, उसकी स्वार्थपरता पर अंकुश लगा सके। जो शिक्षा मनुष्य में मानवीय मूल्यों का विकास न कर सके उसे क्या शिक्षा कहा जा सकता है? यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि आज शिक्षा का सम्बन्ध 'चारित्र' से नहीं 'रोटी' से जोडा जा रहा है। आज शिक्षा की सार्थकता को चरित्र निर्माण में नहीं, चालाकी (डिप्लोमेसी) में खोजा जा रहा है। शासन भी इस मिथ्या धारणा से ग्रस्त है। नैतिक शिक्षा या चरित्र की शिक्षा में शासन को धर्म की 'बू' आती है, उसे अपनी धर्मनिरपेक्षता दूषित होती दिखाई देती है, किन्तु क्या धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता या नीतिहीनता है? मैं समझता हूँ धर्मनिरपेक्षता का मतलब केवल इतना ही है कि शासन किसी धर्म विशेष के साथ आबद्ध नहीं रहेगा। आज हुआ यह है कि धर्म- निरपेक्षता के नाम पर इस देश में शिक्षा के क्षेत्र से नीति और चरित्र की शिक्षा को भी बहिष्कृत कर दिया गया है। चाहे हम अपने मोनोग्रामों में 'सा विद्या या विमुक्तये' की सूक्तियाँ उद्धृत करते हों, किन्तु हमारी शिक्षा का उससे दूर का भी कोई रिश्ता नहीं रह गया है। आज की शिक्षा योजना में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा का कोई स्थान नहीं है, जबकि उच्च शिक्षा एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक बिठाये गये तीनों आयोगों ने अपनी अनुशंसाओं में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा की महती आवश्यकता प्रतिपादित की है। आज का शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही अर्थ के दास हैं। एक ओर शिक्षक इसलिये नहीं पढ़ाता है कि उसे विद्यार्थी के चरित्र निर्माण या विकास में कोई रुचि है, उसकी दृष्टि केवल वेतन दिवस पर टिकी है। वह पढ़ने के लिये नहीं पढ़ाता, अपितु पैसे के लिये पढ़ाता है। दूसरी ओर शासन, सेठ और विद्यार्थी उसे गुरु नहीं 'नौकर' समझते हैं। जब गुरु नौकर है तो फिर संस्कार एवं चरित्र निर्माण की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है। आज तो गुरु-शिष्य के बीच भाव-मोल होता है, सौदा होता है। चाहे हमारे प्राचीन ग्रन्थों में 'विद्ययामृतमश्नुऽते' की बात कही गई हो, किन्तु आज तो विद्या अर्थकारी हो गयी है। शिक्षा के मूल-भूत उद्देश्य को ही हम भूल रहे हैं। वर्तमान सन्दर्भ में फिराक का यह कथन कितना सटीक है, जब वे कहते हैं—

सभी कुछ हो रहा है, इस तरक्की के जमाने में,
मगर क्या गजब है कि, आदमी इनसां नहीं होता।

आज की शिक्षा चाहे विद्यार्थी को वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि सभी कुछ बना रही है, किन्तु यह निश्चित है कि वह इन्सान नहीं बना पा रही है। जब तक शिक्षा को चरित्र निर्माण के साथ, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ नहीं जोड़ा जाता है तब तक वह मनुष्य का निर्माण नहीं कर सकेगी। हमारा प्राथमिक दायित्व मनुष्य को मनुष्य बनाना है। बालक को मानवता के संस्कार देना है। अमेरिका के प्रबुद्ध विचारक टफ्ट्स शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति और स्वरूप को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं— 'शिक्षा चरित्र निर्माण के लिये, चरित्र के द्वारा, चरित्र की शिक्षा है।' इस प्रकार उनकी दृष्टि में शिक्षा का अथ और इति दोनों ही बालकों में चरित्र निर्माण एवं सुसंस्कारों का वपन है। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करने हेतु सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन्, सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. दौलतसिंह कोठारी और शिक्षा शास्त्री डॉ. मुदालियर की अध्यक्षताओं में जो विभिन्न आयोग गठित हुये थे उन सबका निष्कर्ष यही था कि शिक्षा को मानवीय मूल्यों से जोड़ा जाय। जब तक शिक्षा मानवीय मूल्यों से नहीं जुडेगी, उससे चरित्र निर्माण और सुसंस्कारों के वपन का प्रयास नहीं होगा, तब तक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों रुपी शिक्षा के इन कारखानों से साक्षर नहीं, राक्षस ही पैदा होंगे।

भारतीय चिन्तन प्राचीनकाल से ही इस सम्बन्ध में सजग रहा। औपनिषदिक युग में ही शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया था— "सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात् विद्या वही जो विमुक्ति प्रदान करे। प्रश्न हो सकता है कि यहाँ विमुक्ति से हमारा क्या तात्पर्य है? विमुक्ति का तात्पर्य मानवीय संत्रास और तनावों से मुक्ति है, अपनत्व और ममत्व के क्षुद्र घेरों से विमुक्ति है। मुक्ति का तात्पर्य है— अहंकार, आसक्ति, राग-द्वेष और तृष्णा से मुक्ति। यही बात जैन आगम इसिभासियाइं (ऋषिभासित) में कही गई है—

इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा।
जं विज्जं साहइत्ताणां, सव्वदुक्खाण मुच्चती।।
जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं।
आयाभावं च जाणाति, सा विज्जया दुक्खमोयणी।।

- इसिभासियाइं, १७/१-२

वही विद्या महाविद्या है और वही विद्या समस्त विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना करने से समस्त दु:खों से मुक्ति मिलती है। विद्या दु:ख- मोचनी है। जैन आचार्यों ने उसी विद्या को उत्तम माना है जिसके द्वारा दु:खों से मुक्ति हो और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार हो।

अब प्रश्न यह उपस्थित है कि दु:ख क्या है और किस दु:ख से मुक्त होना है? यह सत्य है कि दु:ख से हमारा तात्पर्य दैहिक दु:खों से भी होता है, किन्तु ये दैहिक दु:ख प्रथम तो कभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं होते, क्योंकि उनका केन्द्र हमारी चेतना न होकर हमारा शरीर होता है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर अपनी वीतराग दशा में भी दैहिक दु:खों से पूर्णत: मुक्त नहीं हो सकता। जब तक देह है क्षुधा, पिपासा आदि दु:ख तो रहेंगे ही। अत: जिन दु:खों से विमुक्ति प्राप्त करनी है, वे दैहिक नहीं मानसिक है। व्यक्ति की रागात्मकता, आसक्ति या तृष्णा ही एक ऐसा तत्त्व है, जिसकी उपस्थिति में मनुष्य दु:खों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन मात्र रोजी-रोटी प्राप्त कर लेना नहीं रहा है। जो शिक्षा व्यक्ति को आध्यात्मिक आनन्द या आत्मतोष नहीं दे सकती, वह शिक्षा व्यर्थ है। आत्मतोष ही शिक्षा का सम्यक् प्रयोजन है। शिक्षा-पद्धति को स्पष्ट करते हुए 'इसिभासियाइं' में कहा गया है कि जिस प्रकार एक योग्य चिकित्सक सर्वप्रथम रोग को जानता है, फिर उस रोग के कारणों का निश्चय करता है, फिर रोग की औषधि का निर्णय करता है और फिर उस औषधि द्वारा रोग की चिकित्सा करता है।[२] उसी प्रकार हमें सर्वप्रथम मनुष्यों के दु:ख के स्वरूप को समझना होता है, तत्पश्चात् दु:ख के कारणों का विश्लेषण करके फिर उन कारणों के निराकरण का उपाय खोजना होता है और अन्त में इन उपायों द्वारा उन कारणों का निराकरण किया जाता है। यही बातें जैनधर्म में शिक्षा के प्रयोजन एवं पद्धति को स्पष्ट करती है। सम्यक् शिक्षा वही है जो मानवीय दु:खों के स्वरूप को समझे, उनके कारणों का विश्लेषण करे फिर उनके निराकरण के उपाय खोजें और उन उपायों का प्रयोग करके दु:खों से मुक्त हो। वस्तुत: आज की हमारी जो शिक्षा नीति है, उसमें हम इस पद्धति को नहीं अपनाते। शिक्षा से हमारा तात्पर्य मात्र बालक के मस्तिष्क को सूचनाओं से भर देना है। जब तक उसके सामने जीवन-मूल्यों को स्पष्ट नहीं करते, तब तक हम शिक्षा के प्रयोजन को न तो सम्यक् प्रकार से समझ ही पाते हैं, न मनुष्य के दु:खों का निराकरण ही कर पाते हैं। जैन आगमों में ऋषिभाषित एवं आचारांग से लेकर प्रकीर्णकों तक में शिक्षा के उद्देश्य की विभिन्न दृष्टियों से विवेचना की गयी है। यदि उस समग्र विवेचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को एक ही वाक्य में कहना हो तो जैन आचार्यों की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन चित्तवृत्तियों एवं आचार की विशुद्धि है। चित्तवृत्तियों का दर्शन ज्ञान-यात्रा का प्रारम्भ है। आचारांग में मैं कौन हूँ? इसे ही साधना-यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु कहा गया है। आचारांग ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में आत्म जिज्ञासा से ही ज्ञान साधना का प्रारम्भ माना गया है। उपनिषद् का ऋषि कहता है 'आत्मानं विद्धि', आत्मा को जानो।[३] बुद्ध ने 'अत्तानं गवेसेथ' कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की।[४] ज्ञातव्य है कि यहाँ आत्मज्ञान का तात्पर्य अमूर्त आत्मतत्त्व की खोज नहीं, अपितु अपने ही चित्त की विकृतियों और वासनाओं का दर्शन है। चित्तवृत्ति और आचार की विशुद्धि की प्रक्रिया तब ही प्रारम्भ हो सकती है, जब हम अपने विकारों और वासनाओं को देखें, क्योंकि जब तक चित्त में विकारों, वासनाओं और उनके कारणों के प्रति सजगता नहीं आती, तब तक चरित्र शुद्धि की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। आचारांग में ही कहा गया है कि जो मन का ज्ञाता होता है, वही निर्ग्रन्थ (विकार-मुक्त) है।[५]

जैन आचार्यों की दृष्टि में उस शिक्षा या ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है जो हमें चारित्र शुद्धि या आचार शुद्धि की दिशा में गतिशील न करता हो। इसीलिए सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'विज्जाचरणं पमोक्खं'[६] अर्थात् विद्या और आचरण से ही विमुक्ति की प्राप्ति होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है।[७] इसे और स्पष्ट करते हुए इसी ग्रन्थ में पुनः कहा गया है कि जिस प्रकार धागे से युक्त सुई गिर जाने पर भी विनष्ट नहीं होती है अर्थात् खोजी जा सकती है, उसी प्रकार श्रुत सम्पन्न जीव संसार में विनष्ट नहीं होता।[८] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ज्ञान, अज्ञान और मोह का विनाश करके सर्व विषयों को प्रकाशित करता है।[९] यह स्पष्ट है कि ज्ञान साधना का प्रयोजन अज्ञान के साथ-साथ मोह को भी समाप्त करना है। जैन आचार्यों की दृष्टि में अज्ञान और मोह में अन्तर है। मोह अनात्म विषयों के प्रति आत्मबुद्धि है, वह राग या आसक्ति का उद्भावक है उसी से क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का जन्म होता है। अतः उत्तराध्ययन के अनुसार जो व्यक्ति की क्रोध, मान, माया आदि की दूषित चित्तवृत्तियों पर अंकुश लगाये, वही सच्ची शिक्षा है।[१०] केवल वस्तुओं के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त कर लेना शिक्षा का प्रयोजन नहीं है। उसका प्रयोजन तो व्यक्ति को वासनाओं और विकारों से मुक्त कराना है। शिक्षा व्यक्तित्व या चरित्र का उदात्तीकरण है। जब तक शिक्षा को केवल जानकारियों तक सीमित रखा जायेगा तब तक वह व्यक्तित्व की निर्माता नहीं बन सकेगी। दशवैकालिकसूत्र में शिक्षा के चार उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

१. मुझे श्रुत ज्ञान (आगम ज्ञान) प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
२. मैं एकाग्रचित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
३. मैं अपने आप को धर्म में स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिये।
४. मैं स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को धर्म में स्थित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिये।[११]

इस प्रकार दशवैकालिक के अनुसार अध्ययन का प्रयोजन ज्ञान प्राप्ति के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता तथा धर्म (सदाचार) में स्वयं स्थित होना तथा दूसरों को स्थित करना माना गया है। जैन आचार्यों की दृष्टि में जो शिक्षा चरित्रशुद्धि में सहायक नहीं होती, उसका कोई अर्थ नहीं है। चंद्रवेध्यक नामक प्रकीर्णक में ज्ञान और सदाचार में तादात्म्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि जो विनय है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है उसे ही विनय कहा जाता है।[१२] श्रुतज्ञान में कुशल, हेतु और कारण का जानकार व्यक्ति भी यदि अविनीत और अहंकारी है तो वह ज्ञानियों द्वारा प्रशंसनीय नहीं है।[१३] जो अल्पश्रुत होकर भी विनीत है वही कर्म का क्षय कर मुक्ति प्राप्त करता है, जो बहुश्रुत होकर भी अविनीत, अल्पश्रद्धा और संवेग युक्त है वह चरित्र की आराधना नहीं कर पाता है।[१४] जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति के लिये करोड़ों दीपक भी निरर्थक हैं उसी प्रकार अविनीत (असदाचारी) व्यक्ति के बहुत अधिक शास्त्रज्ञान का भी क्या प्रयोजन? जो व्यक्ति जिनेन्द्र द्वारा उपादिष्ट अति विस्तृत ज्ञान को जानने में चाहे समर्थ न ही हो, फिर भी जो सदाचार से सम्पन्न है वस्तुतः वह धन्य है, और वही ज्ञानी है।[१५] जैन आचार्य यह मानते हैं कि ज्ञान आचरण का हेतु है, मात्र वह ज्ञान जो व्यक्ति की आचार शुद्धि का कारण नहीं होता, निरर्थक ही माना गया है। जिस प्रकार शस्त्र से रहित योद्धा और योद्धा से रहित शस्त्र निरर्थक होता है, उसी प्रकार ज्ञान से रहित आचरण और आचरण से रहित ज्ञान निरर्थक होता है।

जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा प्राप्ति में बाधक निम्न पाँच कारणों का उल्लेख हुआ है— (१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) आलस्य और (५) रोग।[१६] इसके विपरीत उसमें उन आठ कारणों का भी उल्लेख हुआ है जिन्हें हम शिक्षा प्राप्त करने के साधक तत्त्व कह सकते हैं— (१) जो अधिक हँसी-मजाक नहीं करता हो, (२) जो अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण रखता हो, (३) जो किसी की गुप्त बात को प्रकट नहीं करता हो, (४) जो अश्लील अर्थात् आचारहीन न हो, (५) जो दूषित आचार वाला न हो, (६) जो रस लोलुप न हो, (७) जो क्रोध न करता हो और (८) जो सत्य में अनुरक्त हो।[१७] इससे यही फलित होता है कि जैनधर्म में शिक्षा का सम्बन्ध चारित्रिक मूल्यों से रहा है।

वस्तुतः जैन आचार्यों को ज्ञान और आचरण का द्वैत मान्य नही है। वे कहते हैं— जो ज्ञान है, वही आचरण है, जो आचरण है, वहीं आगम-ज्ञान का सार है।[१८] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में उस शिक्षा को निरर्थक ही माना गया है जो व्यक्ति के चारित्रिक विकास या व्यक्तित्व विकास करने में समर्थ नहीं है। जो शिक्षा मनुष्य को पाशविक वासनाओं से ऊपर नहीं उठा सके, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक शिक्षा नहीं है।

जैन आचार्य शिक्षा का अर्थ व्यक्ति को जीवन और जगत के सम्बन्ध में जानकारियों से भर देना नहीं मानते हैं, अपितु वे इसका उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का विकास या सद्गुणों का विकास मानते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वे शिक्षा को आजीविका या कलात्मक कुशलता से अलग कर देते हैं। रायपसेनीयसुत्त में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है— १. कलाचार्य, २. शिल्पाचार्य एवं ३. धर्माचार्य।[१९] उसमें इन तीनों आचार्यों के प्रति शिष्य के कर्त्तव्यों का भी निर्देश है। इससे यह फलित है कि जैन चिन्तकों की दृष्टि में शिक्षा-व्यवस्था तीन प्रकार की थी। कलाचार्य का कार्य जीवनोपयोगी कलाओं अर्थात् ज्ञान-विज्ञान और ललित कलाओं की शिक्षा देना था। भाषा, लिपि, गणित के साथ-साथ खगोल, भूगोल, ज्योतिष आयुर्वेद संगीत नृत्य आदि की भी शिक्षा कलाचार्य देते थे। वस्तुतः आज हमारे विश्वविद्यालयों में कला, सामाजिक विज्ञान एवं विज्ञान संकाय जो कार्य करते हैं, उन्हीं से मिलता-जुलता कार्य कलाचार्य का था। जैनागमों में पुरुष की ६४ एवं स्त्री की ७२ कलाओं का निर्देश उपलब्ध है[२०]। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि जैनाचार्यों की दृष्टि में शिक्षा जीवन के सभी पहलुओं का स्पर्श करती है।

कलाचार्य के बाद दूसरा स्थान शिल्पाचार्य का था। शिल्पाचार्य वस्तुतः वह व्यक्ति होता था जो आजीविका अर्जन से सम्बन्धित विविध प्रकार के शिल्पों की शिक्षा देता था। आज जिस प्रकार विभिन्न औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थायें प्रशिक्षण प्रदान करती हैं, उस काल में यही कार्य शिल्पाचार्य करते थे। इनके ऊपर धर्माचार्य का स्थान था। इनका दायित्व वस्तुतः व्यक्ति के चारित्रिक गुणों का विकास करना था। वे शील और सदाचार की शिक्षा देते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में शिक्षा को तीन भागों में विभक्त किया गया था और इन तीनों विभागों का दायित्व तत्-तत् विषयों के आचार्य निर्वाह करते थे।

जैन परम्परा में कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य के जो निर्देश उपलब्ध होते हैं उनसे ऐसा लगता है कि भारतीय चिन्तन में जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ या जीवन-मूल्य माने गये हैं, उनमें मोक्ष तो साध्य पुरुषार्थ है, अतः शेष तीन पुरुषार्थों की शिक्षा की व्यवस्था अलग-अलग तीन आचार्यों के लिए नियत की गई थी। शिल्पाचार्य का कार्य अर्थ पुरुषार्थ की शिक्षा देना था, तो कलाचार्य का काम भाषा लिपि और गणित की शिक्षा के साथ-साथ काम पुरुषार्थ की शिक्षा देना था। धर्माचार्य का कार्य मात्र धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ से ही सम्बन्धित था इस प्रकार विविध जीवन-मूल्यों की शिक्षा के लिए विविध आचार्यों की व्यवस्था थी। चूँकि जैनधर्म मूलतः एक निवृत्ति-मूलक और संन्यासपरक धर्म था इसलिए धर्माचार्य का कार्य धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ की शिक्षा देने तक ही सीमित रखा गया था। इस प्रकार जीवन के विविध मूल्यों के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था भी अलग-अलग थी। आज हम सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों के लिए जो एक ही प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था की बात करते हैं, वह मूल में भ्रांति है, जहाँ शिल्पाचार्य और कलाचार्य वृत्तिमूलक शिक्षा प्रदान करते थे वहाँ धर्माचार्य निवृत्तिमूलक शिक्षा प्रदान करते थे। पुनः यह भी आवश्यक है कि जो आचार्य जिस प्रकार की जीवन शैली जीता है वह वैसी ही शिक्षा प्रदान कर सकता है। अतः धर्माचार्य से अर्थ और काम की शिक्षा शिल्पाचार्य एवं कलाचार्य से धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की शिक्षा की अपेक्षा करना उचित नहीं है। वर्तमान सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि हम शिक्षा के विविध क्षेत्रों का दायित्व विविध आचार्यों को सौंपें और इस बात का विशेष ध्यान रखें कि जो व्यक्ति जिस प्रकार की शिक्षा के देने के लिए योग्य हो, वही उसका दायित्व सम्भालें। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक शिक्षा के क्षेत्र में मानव के सर्वांगीण विकास की कल्पना सार्थक नहीं होगी। 'रायपसेनीयसुत्त' में जो कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य की व्यवस्था दी गयी है इससे यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा के ये तीनों क्षेत्र मानव जीवन के तीन मूल्यों से सम्बन्धित थे तथा एक-दूसरे से पृथक् थे और सामान्य व्यक्ति तीनों ही प्रकार की शिक्षायें प्राप्त करता था। फिर भी प्राचीनकाल में यह शिक्षा पद्धति व्यक्ति के लिये भार स्वरूप नहीं थी।

जहाँ तक आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रश्न था यह धर्माचार्य के सान्निध्य में उपदेशों के श्रवण के माध्यम से प्राप्त की जाती थी। इसके लिये व्यक्ति को कुछ व्यय नहीं करना होता था। सामान्यतया श्रमण परम्परा में धर्माचार्य भिक्षाचर्या से ही अपनी उदरपूर्ति करते थे और उनके कोई स्थायी आश्रम आदि भी नहीं होते थे, अतः वे व्यक्ति और समाज पर भार-स्वरूप नहीं होते थे। इसके विपरीत वैदिक परम्परा में धर्माचार्य सपरिवार अपने आश्रमों में रहते थे तथा धर्माचार्य और कलाचार्य का कार्य एक ही व्यक्ति करता था। कुछ कलाचार्य सम्पन्न व्यक्तियों या राजाओं या सामन्तों के घर जाकर भी शिक्षा प्रदान करते थे, फिर भी सामान्यतया, वे शिक्षा अपने आश्रमों में ही प्रदान करते थे। आश्रम पद्धति की विशेषता यह थी कि विद्यार्थी और शिक्षक अपनी आजीविका या तो अपने श्रम से उपार्जित करते अथवा भिक्षाचर्या के माध्यम से उसकी पूर्ति करते। इसलिए उस युग में शिक्षा न तो व्यक्ति पर भार-स्वरूप थी और न राज्य पर। समृद्ध व्यक्ति अथवा राजा समय-समय पर दानादि देकर शिक्षकों को सम्मानित अवश्य करते थे। विद्यार्थी भी अपनी शिक्षापूर्ण करने के पश्चात् जब स्वयं आजीविका अर्जन करने लगता, तो वह भी गुरु-दक्षिणा देकर अपने गुरु को सम्मानित करता था। फिर भी यह समग्र व्यवस्था मूलतः ऐच्छिक थी। शिल्पाचार्य आजीविका अर्जन से सम्बन्धित विभिन्न शिल्पों की शिक्षा देते थे। विद्यार्थी शिल्पाचार्य के सान्निध्य में रहकर ही शिल्प सिखते थे। इसमें शिक्षण और आजीविका अर्जन की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती थी। सामान्यतया यह शिक्षा पिता-पुत्र की परम्परा से चलती थी। किन्तु कभी-कभी व्यक्ति दूसरों के सान्निध्य में भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करता था। 'रायपसेनीय' में स्पष्ट रूप में यह उल्लिखित है कि किस प्रकार के शिक्षक को किस प्रकार से सम्मानित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चाहिए।[२१] शिल्पाचार्य और कलाचार्य के सम्मान की पद्धति धर्माचार्य के सम्मान की पद्धति से भिन्न थी। कलाचार्य और शिल्पाचार्य की शिष्यगण तेलमालिश, स्नान आदि के द्वारा न केवल शारीरिक सेवा करते थे, अपितु उन्हें वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत कर सरस भोजन करवाते थे तथा उनकी आजीविका एवं उनके पुत्रादि के भरण-पोषण की योग्य व्यवस्था भी करते थे। दूसरी ओर धर्माचार्य को वन्दन नमस्कार करना, उसके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनना, भिक्षार्थ आने पर आहारादि से उसका सम्मान करना— यही शिक्षार्थी का कर्तव्य माना गया था।[२२] ज्ञातव्य है कि जहाँ शिल्पाचार्य और कलाचार्य अपने शिष्यों से भूमि, मुद्रा आदि के दान की अपेक्षा करते थे, वहाँ धर्माचार्य अपरिग्रही होने के कारण अपने प्रति श्रद्धाभाव को छोड़कर अन्य कोई अपेक्षा नहीं रखते थे। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शिल्पाचार्य और कलाचार्य सामान्यतया गृहस्थ होते थे और इसलिए उन्हें अपने पारिवारिक दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए शिष्यों से मुद्रा आदि की अपेक्षा होती थी, किन्तु धर्माचार्य की स्थिति इससे भिन्न थी, वे सामान्य रूप से संन्यासी और अपरिग्रही होते थे, अत: उनकी कोई अपेक्षा नही होती थी। वस्तुत: नैतिकता और सदाचार की शिक्षा देने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता था जो स्वयं अपने जीवन में नैतिकता का आचरण करता हो और यही कारण था कि उसके उपदेशों एवं आदेशों का प्रभाव होता था। आज हम नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा देने का प्रथम तो कोई प्रयत्न ही नहीं करते दूसरे उसकी अपेक्षा भी हम उन शिक्षकों से करते हैं जो स्वयं उस प्रकार का जीवन नहीं जी रहे होते हैं, फलत: उनकी शिक्षा का कोई प्रभाव भी नहीं होता। यही कारण है कि आज विद्यार्थियों में चरित्र निष्ठा का अभाव पाया जाता है, क्योंकि यदि शिक्षक स्वयं चरित्रवान नहीं होगा तो वह अपने विद्यार्थियों को वैसी शिक्षा नहीं दे पायेगा, कम से कम धर्माचार्य के सन्दर्भ में तो यह बात आवश्यक है। जब तक उसके जीवन में चारित्रिक और नैतिक मूल्य साकार नहीं होंगे, वह अपने शिष्यों पर उनका प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होगा। चंद्रवेध्यक प्रकीर्णक कहता है कि सम्यक् शिक्षा के प्रदाता आचार्य निश्चय ही सुलभ नहीं होते।[२३]

जैन आगमों में इस प्रश्न पर भी गम्भीरता से विचार किया गया है कि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी कौन है? चंद्रवेध्यक प्रकीर्णक में उन व्यक्तियों को शिक्षा के अयोग्य माना गया है, जो अविनीत हों, जो आचार्य का और विद्या का तिरस्कार करते हों, मिथ्यादृष्टिकोण से युक्त हों तथा मात्र सांसारिक भोगों के लिए विद्या प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हों।[२४] इसी प्रकार योग्य आचार्य कौन हो सकता है इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो देश और काल का ज्ञाता, अवसर को समझने वाला, अभ्रान्त, धैर्यवान, अनुवर्तक और अमायावी होता है, साथ ही लौकिक, आध्यात्मिक और वैदिक शास्त्रों का ज्ञाता होता है वही शिक्षा देने का अधिकारी है। इस ग्रन्थ में आचार्य की उपमा दीपक से दी गयी है। दीपक के समान आचार्य स्वयं भी प्रकाशित होते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।[२६]

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आचार्य के गुणों की संख्या ३६ स्वीकार की गयी हैं, किन्तु ये ३६ गुण कौन-कौन हैं इस सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थकारों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। भगवती आराधना में आचारत्व आदि ८ गुणों के साथ-साथ, १० स्थिति कल्प, १२ तप और ६ आवश्यक, ऐसे ३६ गुण माने गये हैं।[२७] इसी के टीकाकार अपराजितसूरि ने ८ ज्ञानाचार, ८ दर्शनाचार, १२ तप, ५ समिति और ३ गुप्ति— ये ३६ गुण मानें हैं।[२८] श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग में आचार्य को आठ प्रकार की निम्न गणि-सम्पदाओं से युक्त बतलाया गया है— १. आचार- सम्पदा, २. श्रुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा, ४. वचन-सम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६. मति-सम्पदा, ७. प्रयोग-सम्पदा (वादकौशल) और ८. संग्रह परिज्ञा (संघ व्यवस्था में निपुणता)।[२९] प्रवचनसारोद्धार में आचार्य के ३६ गुणों का तीन प्रकार से विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम उपरोक्त ८ गणि-सम्पदा के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से ३२ भेद होते हैं, इनमें आचार्य, श्रुत, विक्षेपणा और निर्घाटन— ये विनय में चार भेद सम्मलित करने पर कुल ३६ भेद होते हैं। प्रकारान्तर से ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चरित्राचार के आठ-आठ भेद करने पर २४ भेद होते हैं, इनमें १२ प्रकार का तप मिलाने पर ३६ भेद होते हैं। कहीं-कहीं आठ गणि- सम्पदा, १० स्थितिकल्प, १२ तप और ६ आवश्यक मिलाकर आचार्य में ३६ गुण माने गये हैं। प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार ने आचार्य के निम्न ३६ गुणों का भी उल्लेख किया गया है— १. देशयुत, २. कुलयुत, ३. जातियुत, ४. रूपयुत, ५. संहननयुत, ६. घृतियुत, ७. अनाशंसी, ८. अविकथन, ९. अयाची, १०. स्थिर परिपाटी, ११. गृहीतवाक्य, १२. जितपर्षद्, १३. जितनिद्रा, १४. मध्यस्थ, १५. देशज्ञ, १६. कालज्ञ, १७. भावज्ञ, १८. आसन्नलब्धप्रतिम, १९. नानाविधदेश भाषा भाषज्ञ, २०. ज्ञानाचार, २१. दर्शनाचार, २२. चारित्राचार, २३. तपाचार, २४. वीर्याचार, २५. सूत्रपात, २६. आहरनिपुण, २७. हेतुनिपुण, २८. उपनयनिपुण, २९. नयनिपुण, ३०. ग्राहणाकुशल, ३१. स्वसमयज्ञ, ३२. परसमयज्ञ, ३३. गम्भीर, ३४. दीप्तीमान, ३५. कल्याण करने वाला और ३६. सौम्य।[३०]

इन गुणों की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आगमों में आचार्य कैसा होना चाहिए इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया था और मात्र चरित्रवान एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठावान व्यक्ति को ही आचार्यत्व के योग्य माना गया था।

इससे यह फलित भी होता है कि जो साधक अहिंसादि महाव्रतों का स्वयं पालन करता है तथा आजीविका अर्जन हेतु मात्र भिक्षा पर निर्भर रहता है, जो स्वार्थ से परे है वही व्यक्ति आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का शिक्षक होने का अधिकारी है।

विद्यार्थी कैसा होना चाहिये, इसकी चर्चा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो भिक्षाजीवी, विनीत, सज्जन व्यक्तियों के गुणों को जानने वाला, आचार्य की मनोभावों के अनुरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचरण करने वाला, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि को सहन करने वाला, लाभ-अलाभ में विचलित नहीं होने वाला, सेवा तथा स्वाध्याय हेतु तत्पर, अहंकार रहित और आचार्य के कठोर वचनों को सहन करने में समर्थ शिष्य ही शिक्षा का अधिकारी है।[३१] ग्रन्थकार यह भी कहता है कि शास्त्रों में शिष्य की जो परीक्षा-विधि कही गयी है उसके माध्यम से शिष्य की परीक्षा करके ही उसे मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये।[३२]

उत्तराध्ययनसूत्र में शिष्य के आचार-व्यवहार के सन्दर्भ में निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो शिष्य गुरु के सान्निध्य में रहता है, गुरु के संकेत व मनोभावों को समझता है वही विनीत कहलाता है। इसके विपरीत आचरण वाला अविनीत। योग्य शिष्य सदैव गुरु के निकट रहे, उनसे अर्थ पूर्ण बात सीखे और निरर्थक बातों को छोड़ दे, गुरु द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, शूद्र व्यक्तियों के संसर्ग से दूर रहे, यदि कोई गलती हो गयी हो तो उसे छिपाये नहीं अपितु यथार्थ रूप में प्रकट कर दे। बिना पूछे गुरु की बातों में बीच में न बोले, अध्ययन काल में सदैव अध्ययन करे। आचार्य के समक्ष बराबरी से न बैठे, न उनके आगे, न पीछे सटकर बैठे। गुरु के समीप उनसे अपने शरीर को सटाकर भी नहीं बैठे, बैठे-बैठे ही न तो कुछ पूछे और न उत्तर दे। गुरु के समीप उकड़ू आसन से बैठकर हाथ जोड़कर जो पूछना हो उसे विनयपूर्वक पूछे।[३३]

ये सभी तथ्य यह सूचित करते हैं कि जैन शिक्षा-व्यवस्था में शिष्य के लिए अनुशासित जीवन जीना अवश्यक था। यह कठोर अनुशासन वस्तुतः बाहर से थोपा हुआ नहीं था, अपितु मूल्यात्मक शिक्षा के माध्यम से इसका विकास अन्दर से ही होता था, क्योंकि जैन शिक्षा-व्यवस्था में सामान्यतया शिष्य में ताड़न-वर्जन की कोई व्यवस्था नहीं थी। आचार्य और शिष्य दोनों के लिए ही आगम में उल्लेखित अनुशासन का पालन करना आवश्यक था। जैन शिक्षा विधि में अनुशासन आत्मानुशासन था। व्यक्ति को दूसरे को अनुशासित करने का अधिकार तभी माना गया था, जब वह स्वयं अनुशासित जीवन जीता हो। आचार्य तुलसी ने 'निज' पर शासन फिर अनुशासन का जो सूत्र दिया है वह वस्तुतः जैन शिक्षा विधि का सार है। शिक्षा के साथ जब तक जीवन में स्वस्फूर्त अनुशासन नहीं आयेगा तब तक वह सार्थक नहीं होगी।

सन्दर्भ

१. बाइबिल, उद्धृत नये संकेत, आचार्यरजनीश, पृ. ५७
२. इसिभासियाइं, १७/३
३. आचारांग, १/१/१
४. कठोपनिषद्, ३/३
५. आचारांग, २/३/१५/१
६. सूत्रकृतांग, १/१२/११
७. उत्तराध्ययन, ३२/२
८. वही, २९/६०
९. वही, ३२/२
१०. वही, ३२/१०२-१०६
११. दशवैकालिक ९/४
१२. चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक (चन्दावेज्झया)- सं० डॉ० सुरेश सिसोदिया आगम-अहिंसा संस्थान, उदयपुर, ६२
१३. वही, ५६
१४. वही, ६४
१५. वही, ६८
१६. उत्तराध्ययनसूत्र, ११/३
१७. वही, ११/४-५
१८. चन्द्रवेध्यक, ७७
१९. रायपसेनीयसुत्त (घासीलाल जी म.) सूत्र ९५६, पृ. ३३८-३४१
२०. समवायांग-समवाय ७२ (देखें— टीका)
२१. रायपसेनीयसुत्त (घासीलालजी म.) सूत्र ९५६, पृ. ३३८-३४१
२२. वही, पृ. ३३८-३४१
२३. चन्द्रवेध्यक, २०
२४. वही, ५१-५३
२५. वही, २५,२६
२६. वही, ३०
२७. भगवतीआराधना सं०पं० कैलाशचंदजी, भारतीय ज्ञानपीठ, देहली, ५२८
२८. वही, टीका
२९. स्थानांगसूत्र-स्थान, ८/१५
३०. प्रवचनसारोद्धार, द्वार ६४
३१. देखें— उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय १ एवं ११
३२. चन्द्रवेध्यक, ५३
३३. उत्तराध्ययनसूत्र, १/२-२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org